अध्याय-६

कर्म स्वतन्त्रता

मानव योनि कर्मयोनि है इस योनि में जीव की कर्म स्वतन्त्रता का हनन ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार नहीं होता क्योंकि **"स्वतन्त्रः कर्त्ता"** (अष्टाध्यायी १.४.५४) सूत्र के अनुसार जो स्वतन्त्र है वही कर्त्ता है।

जीव की कर्म स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में सांख्यदर्शन कार महर्षि कपिल कहते हैं :—

अहङ्कारकर्त्राधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात्॥

॥सांख्य० ६.६४॥

अर्थात् (**अहङ्कारकर्त्राधीना कार्यसिद्धिः**) जीवात्मा की कार्यसिद्धि = कार्य का निष्पादन = कर्म में प्रवृत्ति अहंकार रूप कर्त्ता के आधीन होती है, क्योंकि अंहकार से युक्त ही जीवात्मा है (**ईश्वराधीना न**) ईश्वर के आधीन नहीं। क्योंकि (**प्रमाणाभावात्**) परमात्मा के आधीन जीवात्मा का कर्म है, इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

जीवात्मा कर्म करने में ईश्वर के आधीन नहीं है, अपितु उसे स्वतन्त्रता से कर्म करने के लिए वेद में आदेश है — **"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"** (यजु० ४०.२) कर्मों को करते हुए सौ या अधिक वर्षों तक जीने की इच्छा कर। कर्मों को करने की इच्छा तो वही कर सकता जिसके अधीन मन, बुद्धि, प्राण एवं इन्द्रियाँ हों, और वह कर्म करने में स्वतन्त्र हो। अतः महर्षि कपिल वेद के अनुसार जीवात्मा के कर्मों को ईश्वरीय व्यवस्था में पूर्व निश्चित या परमात्मा की इच्छानुसार या परमात्मा के आधीन नहीं मानते।

इस विषय में स्वामी दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के सप्तम् समुल्लास में लिखते हैं :—-

"प्रश्नः— जीव स्वतन्त्र है वा परतन्त्र ?

उत्तरः— अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में

परतन्त्र हैं। **"स्वतन्त्रः कर्त्ता"** यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है। जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है वहीं कर्त्ता है।

प्रश्नः— स्वतन्त्र किसको कहते हैं ?

उत्तरः— जिसके आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तः करणादि हों। जो स्वतन्त्र न हो तो उसको पाप पुण्य का फल प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे भृत्य, स्वामी और सेना, सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक मनुष्यों को मार के अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और अधीनता में काम सिद्ध हो तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे। उस फल का भागी परमेश्वर होवे। नरक-स्वर्ग अर्थात् दुःख-सुख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे। जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्र विशेष से किसी को मार डाला तो वही मारने वाला पकड़ा जाता है और वही दण्ड पाता है, शस्त्र नहीं। वैसे ही पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिए अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र, परन्तु जब वह पाप कर चुकता है तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल को भोगता है। इसलिए कर्म करने में जीव स्वतन्त्र और पाप के दुःखस्वरूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।

प्रश्नः— जो परमेश्वर जीव को न बनाता और सामर्थ्य न देता तो जीव कुछ भी न कर सकता। इसलिए, परमेश्वर की प्रेरणा से ही जीव कर्म करता है?

उत्तरः— जीव उत्पन्न कभी न हुआ, अनादि है। जैसा ईश्वर और जगत का उपादान कारण नित्य है और जीव का शरीर और इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाए हुए हैं परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई मन, कर्म, वचन से पाप-पुण्य करता है, वही भोक्ता है ईश्वर नहीं।

जैसे किसी कारीगर ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया, उसकी दुकान से लौहार ने ले तलवार बनाई, उससे किसी सिपाही ने तलवार ले ली, फिर उससे किसी को मार डाला। अब यहाँ जैसे वह लोहे को उत्पन्न करने, उससे लेने, तलवार बनाने वाले और तलवार को पकड़ कर राजा दण्ड नहीं देता, किन्तु जिसने तलवार से मारा वही दण्ड पाता है। इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर उसके कर्मों का भोक्ता नहीं होता, किन्तु जीव को भुगाने वाला होता है। जो परमेश्वर कर्म कराता होता तो

कोई जीव पाप नहीं करता, क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने की प्रेरणा नहीं करता। इसलिए जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है। जैसे जीव अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है वैसे ही परमेश्वर भी अपने कर्मों के करने में स्वतन्त्र है।''

इन प्रश्नों के उत्तर में महर्षि दयानन्द ने बिल्कुल स्पष्ट किया है कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है क्योंकि अगर परमेश्वर की प्रेरणा और अधीनता में काम जीव करें तो उन कर्मों के फल का भोक्ता परमेश्वर होगा ना कि जीव।

प्रश्नः— क्या परमात्मा प्रेरणा नहीं करता ?

उत्तरः— परमात्मा किसी को अच्छा या बुरा कर्म करने की प्रेरणा नहीं करता। बल्कि वह जीवात्मा को उसके द्वारा किये जाने वाले इच्छित कर्म के शुभ या अशुभ होने का संकेत मात्र करता है। महर्षि दयानन्द सरस्तवी सत्यार्थ प्रकाश के सप्तमसमुल्लास में लिखते हैं —

"और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा, ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाते हैं। उसी क्षण में आत्मा के ज्ञीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों को करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है।"

अतः परमात्मा मात्र इतना बताता है कि कर्म अच्छा है या बुरा इसके बाद की स्वतन्त्रता जीव की है कि वह उस कर्म करें या न करें।

इस प्रकार से परमात्मा के ज्ञान में भी यह निश्चित नहीं है कि कोई भी जीव विशेष आने वाले समय में किस-किस कर्म को करेगा। परन्तु जैसे-जैसे जीव कर्म करता चला जाता है वैसे-वैसे परमात्मा सर्वव्यापक और सर्वज्ञ होने से जानता चला जाता है कि अमुक जीव ने यह-यह कर्म किए।

प्रश्नः— हम तो यह मानते हैं कि परमात्मा पहले से ही सब कुछ जानता है, और जीवों को प्रत्येक कर्म परमात्मा के पूर्व निश्चित ज्ञान के अनुसार होता है। जैसा परमात्मा ने जीव के लिए निश्चित कर रखा है वैसे ही जीव कर्म करेगा अन्यथा नहीं ?

उत्तरः— अगर ऐसा मान लिया जाए तो जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं रहेगा। क्योंकि कर्मों के पूर्व निश्चित होने पर तो, मनुष्य को वही कर्म, वह भी उस देश और उस काल में दूसरे प्राणी विशेष के प्रति या व्यक्तिगत रूप से करना ही होगा, जोकि उसके लिये पूर्व निश्चित है, तो ऐसे में जीव की कर्म करने न करने की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाएगी इसलिए यह मान्यता सर्वथा गलत है। वरन् जैसा-जैसा जीव करता है वैसा-वैसा परमात्मा जानता है। जीवों के लिये कर्मों की दृष्टि से कुछ भी पूर्व निश्चित नहीं है ऐसा मानना ही उचित है। देखो, इस विषय में, सत्यार्थप्रकाश के सप्तमसुमल्लास में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं —

"प्रश्नः— परमेश्वर त्रिकालदर्शी है इससे भविष्यत की बातें जानता है। वह जैसा निश्चिय करेगा जीव वैसा ही करेगा। इससे जीव स्वतन्त्र नहीं और जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान से निश्चित किया है वैसा ही जीव करता है।

उत्तरः— ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है। क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल, और न होके होवे वह भविष्यत काल कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न हो के होता है ? इसलिए परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस, अखण्डित, वर्तमान रहता है। भूत, भविष्यत जीवों के लिए है। हाँ जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं। जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है। अर्थात् भूत, भविष्यत, वर्तमान के ज्ञान और फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र और जीव किञ्चित् वर्तमान और कर्म करने में स्वतन्त्र है। ईश्वर का अनादि ज्ञान होने से जैसा कर्म का ज्ञान है वैसा ही दण्ड देने का भी ज्ञान अनादि है। दोनों ज्ञान उसके सत्य हैं। क्या कर्मज्ञान सच्चा और दण्डज्ञान मिथ्या कभी हो सकता है ? इसलिए इसमें कोई भी दोष नहीं आता।"

इस विषय में यह समझना भी आवश्यक है कि परमात्मा किसी भी मनुष्य को कोई भी कर्म करने में किसी प्रकार की साहयता या सहयोग नहीं करता, और न ही अपने किसी कार्य को करने के लिए किसी प्रकार का सहयोग या साहयता जीवों से लेता है। हाँ मनुष्य को कर्म के अच्छे या बुरे होने की

शिक्षा, हर कर्म का विचार मन में आते ही, परमात्मा अवश्य देता है। इस शिक्षा के उपरान्त मनुष्य के किसी भी प्रकार के कर्म (मनसा, वाचा या शरीरिक) करने के लिए, कोई भी व्यवधान ईश्वर की ओर से नहीं होता। उपरोक्त प्रकार की शिक्षा भी किसी प्रकार का व्यवधान नहीं है। मनुष्य चाहे तो उस अच्छे या बुरे कर्म को करे या न करे, उस शिक्षा को सुने या न सुने, समझे या न समझे, क्योंकि जीव कर्म करनें में स्वतन्त्र है। मनुष्यों द्वारा होने वाले सभी कर्म, उनके द्वारा अर्जित ज्ञान या अज्ञान, संस्कारों तथा वासनाओं से प्रेरित और प्रभावित या उन पर ही आधारित होते हैं। यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि किसी भी मनुष्य द्वारा होने वाले बुरे काम पर परमात्मा किसी मनुष्य का हाथ पकड़ कर, उसे उस कार्य करने से रोकता नहीं है, और न ही अच्छा काम होने पर, उस कार्य को बलपूर्वक करवाता है। इसको वास्तिवक जीवन की घटनाओं से समझा और जाना जा सकता है। इस लोक में कितने ही सुधारकों, सत्य उपदेष्टाओं तथा युगपर्वतक संन्यासियों को लोगों ने जहर देकर मार डाला परन्तु परमात्मा ने उन अपराधियों में से किसी का हाथ नहीं पकड़ा। शंकराचार्य को उनके अपने ही कपटी शिष्यों ने मार डाला, स्वामी दयानन्द सरस्वती को उनके अपने ही रसोईये ने जहर देकर मार डाला। क्या परमात्मा ने किसी को रोका या उनको बचाने का कोई प्रयत्न भी किया ?

प्रश्नः— अगर परमेश्वर, जीवों के द्वारा होने वाले कर्मों को पहले से नहीं जानता तो वह त्रिकालज्ञ नहीं रहता?

उत्तरः— परमात्मा की त्रिकालज्ञता का अर्थ आप क्या मानते हैं? पूर्वपक्षीः— परमात्मा तीनों कालों में होने वाले हर कार्य को पहले से ही जानता है। उत्तरपक्षी :— क्या परमात्मा जीवों के कर्मों को पहले से जानकर या अपने इच्छानुसार करवा कर, अपने ही दिए गये वेदोपदेश के विरुद्ध कार्य करता है? क्या वेदों में जीवों के लिए विभिन्न शिक्षाएँ, जो उनके कल्याणार्थ दी गई हैं, उन्हें व्यर्थ माना जाए, क्योंकि सभी जीव तो परमात्मा की इच्छानुसार और उसके पूर्व निश्चित ज्ञान के अनुसार ही भविष्य में कर्म करेंगे ? क्या परमात्मा को व्यर्थ की शिक्षा देने वाला कहा जाये? क्या परमात्मा पर इस प्रकार का आक्षेप करना उचित माना जाए ? पूर्वपक्षीः— नहीं। फिर भी यदि ऐसा नहीं मानते तो परमात्मा की त्रिकालज्ञता पर तो दोष आयेगा। समाधानः— वास्तव में हम लोगों ने त्रिकालज्ञता का अर्थ ठीक प्रकार नहीं समझा है। त्रिकालज्ञता का अर्थ

है कि परमात्मा अपने कार्यों के बारे में तीनों कालों का ज्ञान पहले से ही है अतः परमात्मा त्रिकालज्ञ है। अर्थात् सृष्टि की रचना, पालन, विनाश तथा जीवों के पाप-पुण्य कर्मों के फल का ज्ञान, जैसा पहले के कल्पों में था, वैसा ही वर्त्तमान कल्प में भी है और वैसा ही आगे के कल्पों में भी रहेगा। इसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन कभी नहीं होता। महर्षि दयानन्द भी स्पष्ट रूप से लिखते हैं "ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है .... हाँ जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं। "

प्रश्नः— त्रिकालज्ञता का यह अर्थ आपका मनमाना है।

उत्तरः— महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के सप्तम् समुल्लास में ईश्वर के सर्वशक्तिमान् होने के बारे में इसी तर्क को अपनाया है। उनका कहना है कि सर्वशक्तिमान् का अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर जो चाहे सो करे। क्योंकि ईश्वर अपने कार्यों के करने में किसी की सहायता नहीं लेता अतः सर्वशक्तिमान् है। इसी प्रकार त्रिकालज्ञता के बारे में भी समझना चाहिए। अन्यथा परमात्मा पर वेद में मनुष्यों के लिए व्यर्थ की शिक्षा देने का आक्षेप आयेगा।

प्रश्नः— अगर जीवों के कर्मों को पूर्व निश्चित या ईश्वरेच्छा से न मानें तो सभी जीव अपनी इच्छानुसार कर्म करेंगे जिससे परमेश्वर के ज्ञान में हर क्षण परिवर्तन जीवों के कर्मानुसार होता रहेगा। इससे परमात्मा का ज्ञान एकरस नहीं रहेगा। परन्तु दूसरी ओर परमात्मा का ज्ञान अपरिवर्तनशील कहा गया है। अतः कर्म स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को मानने से परमात्मा के ज्ञान को परिवर्तनशील मानना होगा, क्या यह सिद्धान्त हानि नहीं होगी ?

उत्तरः— परमात्मा का अपने कार्यों के बारे में ज्ञान अपरिवर्तनशील है; उसमें तीनों कालों में किसी प्रकार से कोई परिवर्तन नहीं आता। इस पक्ष में परमात्मा यह जानता है कि कोई भी जीवात्मा अधिक से अधिक कितना शुभ या अशुभ कार्य कर सकता है। अतः जीवों के सभी कार्य परमात्मा की ज्ञान की सीमा में ही आते हैं। जीवों के किसी प्रकार के कार्यों से परमात्मा के ज्ञान में कोई परिवर्तन नहीं आता। हाँ अमुक-अमुक जीव ने अमुक-अमुक काल में कौन-कौन सा शुभ या अशुभ कार्य किया, यह जीवों द्वारा कर्मों के सम्पादन के साथ ही, उनके चित्त में संस्कार रूप से अंकित होता जाता है; और परमात्मा, उस-उस

काल में जीवों के कर्मों के होने के साथ-साथ ही सर्वव्यापक एवं सर्वज्ञ होने से वैसा-वैसा ही जानता जाता है। सर्वव्यापक एवं सर्वज्ञ होने से, जीवों के कर्मों को होने वाले काल में जानना, परमात्मा का स्वाभाविक गुण है और परमात्मा वैसा जानता भी है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जीव परमात्मा की इच्छानुसार ही भविष्य में कर्म करेंगे।

इस प्रकार परमात्मा के ज्ञान में जीवों के होने वाले कर्मों के कारण कोई परिवर्तन नहीं आता।

इस पूरे विवेचन से स्पष्ट है कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र और किए हुए कर्मों के फल को भोगने में परतन्त्र है।